॥ हरिः ॐ ॥

सुख का मार्ग

पूज्य श्रीमोटा के साथ प्रश्नोत्तरी

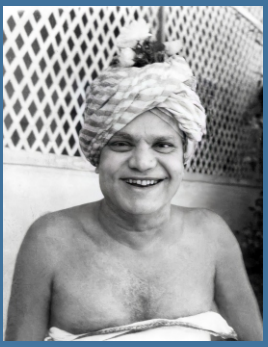

पूज्य श्रीमोटा

हरिः ॐ आश्रम प्रकाशन, सुरत

॥ हरिः ॐ ॥

सुख का मार्ग

पू. श्रीमोटा के साथ प्रश्नोत्तरी

अनुवाद : डॉ. कविता शर्मा

संपादन : डॉ. घनान्द शर्मा 'जदली'

हरिः ॐ आश्रम प्रकाशन, सूरत

॥ हरिः ॐ ॥

: अनुक्रमणिका :

१. दुःख का कारण ५
२. शांति और प्रसन्नता ६
३. संसार का गुणधर्म ७
४. तीन बंदर ८
५. संत का स्पर्श ९
६. भगवान कहाँ है ? १०
७. घातक आंदोलन १२
८. सभी असमर्थ! १३
९. अंतर्मुखता की आवश्यकता १४
१०. निवेदन १६
११. दोष के विचार से दोष के संस्कार १७
१२. सत्पुरुष की सहायता १८
१३. अधोगामी वृत्तियाँ २०
१४. सावधान सद्भागी २२
१५. सुख की खोज २३
१६. इन्द्रियरस का परिणाम २५
१७. प्रभुकृपा से प्रतिकार २६
१८. पूर्वजन्म के संस्कारों का परिणाम ! २८
१९. संस्कारों की गठरी २९
२०. बुद्धिशक्ति–विवेकशक्ति ३०
२१. योग्य जीवन ३२
साधना–मर्म ३४
पूज्य श्रीमोटा के जीवन का परिचय ३७

॥ हरिः ॐ ॥

• समर्पणांजलि •

पू. श्रीमोटा के साथ परिचय पश्चात आजतक लगभग चालीस वर्षो से सुरत, कुंभकोणम् के मौनमंदिरो में कई बार आठ-दस मास या एक वर्ष तक लगातार रहकर पू. श्रीमोटा का नाम और हरिः ॐ का मंत्र अपने हृदय में अंकित कर के उसकी भावपूर्ण धुन करताल के साथ बुलंद ध्वनि से मचाते रहनेवाले और अपना शुद्ध ब्रह्मचर्यपूर्ण, त्यागी जीवन पू. श्रीमोटा के पावन चरण-कमलों में समर्पित करके वर्तमान में फिरोजपुर (पंजाब) में एकांत स्थान में मौन-मंदिर की स्थापना करके मुमुक्षु-जीवो कों प्रभु-भक्ति में प्रोत्साहित करके अपने जीवन परिवर्तन का ऋण पू. श्रीमोटा के प्रति प्रेमभक्तिपूर्वक अदा कर रहै है, ऐसे विरक्त, संयमी, शरणागत प्रेमी स्वजन श्री राज के. मौनी (मौनीबाबा) को यह पुस्तिका उनकी भक्ति की कदर करते सादर समर्पित करते है ।

दि. १३-४-२००८ — ट्रस्टीमंडल,
(रामनवमी) हरिः ॐ आश्रम, सुरत

॥ हरिः ॐ ॥

• निवेदन •

श्रीमद् भगवतगीता में श्रीभगवानने इस संसार को दुखालय बताया है । यहाँ सभी सुख चाहते है । किन्तु कोई विरल व्यक्ति ही उसे पाता है । विनाशी प्रकृति का आकर्षण सुख में अंतरायरूप होता है । अनुभव-सिद्ध संत पू. श्रीमोटाने उन के एक स्वजनभक्त स्व. डॉ. रमेशभाई भट्ट (Ph.D.) के साथ एक प्रश्नोत्तरी में दुख मिटाने का कीमिया बताया है, उसे इस पुस्तिका में प्रस्तुत किया गया है ।

पू. श्रीमोटा के बिन-गुजरातीभाषी स्वजन-भक्तो की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है । उनको पू. श्रीमोटा का आध्यात्मिक मार्गदर्शन प्राप्त हो इस हेतु से इसका प्रकाशन किया गया है ।

इस पुस्तिका का मुद्रणकार्य मुखपृष्ठ सहित श्री श्रेयसभाई पंडया, मे. साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि., अहमदाबादने पू. श्रीमोटा के प्रति अत्यंत प्रेमभक्तिभावसे किया है । हम उनका खूब खूब आभार मानते है ।

इस पुस्तिका का मुद्रण, अनुवाद आदि कार्य बन सके उतनी सावधानी से किया गया है । फिर भी कोई क्षति मालूम पडे तो हमें सूचित करें, जिससे आगे की आवृत्ति में सुधार हो सके ।

प्रस्तुत पुस्तिका के पठन से जिज्ञासु साधकजन यथोचित लाभ उठाकर अपना जीवन सुख-शांति से भर दे ऐसी प्रभुप्रार्थना है ।

दि. १३-४-२००८ — ट्रस्टीमंडल,

(रामनवमी) हरिः ॐ आश्रम, सुरत

१. दुःख का कारण

॥ हरिः ॐ ॥

'मोटा, यों तो खाने-पीने का कोई दुःख नहीं है, तब भी यदि कोई हमें कुछ कह दे, उलाहना दे दे, गुस्सा करे, अपमान करे तब बहुत दुःखी हो जाते हैं। मेरे कुनबे (कुटुंब) में कुछ भी हो, तो अनेक बार मानो मेरा ही दोष हो इस ढंग से मुझे लताड़ा जाता है। मेरी समझ में यह नहीं आता कि बिना किसी दोष-अपराध के मेरे साथ ऐसा क्यों होता है?'

श्रीमोटा : भाई, कुटुंबीजन तुम्हारे साथ जिस प्रकार का व्यवहार करते हैं, उससे तुम दुःख का अनुभव करते हो और तुम ऐसा कहते हो कि मेरा कोई अपराध नहीं है। दुःख का यह अनुभव और उसके पीछे रहा कारण परस्पर विरोधी हैं – इसे तुम समझ नहीं सकोगे ! तुम कहते हो इससे तो ऐसा लगता है कि तुम्हारे कुटुंबीजनों में दोष है, इसलिए वे तुम्हें यह सब कहा करते हैं। अब कुटुंब के सदस्य बुजुर्ग दोषयुक्त हैं और तुम निर्दोष हो, ऐसा यदि तुम मानते हो तो यही बुनियादी विचारदोष हैं, क्योंकि हम सभी संसार में हैं और संसारीभाव से जीते हैं। वहाँ तक हम सभी दोष से मुक्त नहीं हैं।

'कैसे यह सब संसारीभाव से युक्त हैं ? यह बात समझ में नहीं आयी।'

श्रीमोटा : संसारीभाव अर्थात् अहंता और ममतायुक्त रहना। ऐसे भाव से प्रेरित हो व्यवहार करना। 'मैं कहता हूँ – मैं मानता हूँ।' 'मेरी पद्धति ही सही है।' 'मैं चाहता हूँ इसी पद्धतिनुसार सभी को चलना चाहिए।' अथवा तो घर के सभी सदस्य को मेरी इच्छा को सर्वोपरि मानें – ऐसे विचार रखना और ऐसी हठ रखना यही संसारीभाव है। इसे 'जीवदशा' के रूप में पहचाना जा सकता है। 'मैं पढ़ा-लिखा हूँ, मैं

आबरूवाला हूँ। बाहर के व्यक्ति मेरी सलाह लें और घर में तो मेरा कहना कोई मानता ही नहीं ।' यह मान्यता अथवा समझ अहंता है ।

'तो फिर, सभी इसी ढंग से जीते हैं न ! अर्थात् सभी दोषी हैं ?'

श्रीमोटा : दोष तो इस संसार की रचना में निहित है । उसे कोई टाले तो भी टल नहीं सकता । जैसे रात पड़ती है और अंधेरा छा जाता है, तब हम उस अंधकार के कारण बेचैन हो जाते हैं वैसे, क्योंकि उस समय हम पृथ्वी के परिभ्रमण की बात को भूल जाते हैं । प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि अंधकार होगा ही किन्तु अंधकार में हमें प्रकृति की रचना के विषय की समझ हो तो अंधेरे की स्थिति हमें व्याकुल नहीं करेगी । इस प्रकार इस संसार की रचना के रहस्य के विषय में हमारी अज्ञानता के कारण हम सुख का कारण नहीं खोज पाते और अकारण दु:खी होते हैं ।

तुम दु:खी क्यों हो रहे हो ? ऐसा प्रश्न तुम्हारे मन में कैसे आया? इस प्रश्न से तुम्हारा उद्देश्य क्या है ? ●

२. शांति और प्रसन्नता

॥ हरि:ॐ ॥

मेरा उद्देश्य है, जीवन में सभी दिन शांति और प्रसन्नता से बीतें । मोटा, 'मैं स्वयं तो शांत रहता हूँ । किसी को कुछ भी नहीं कहता । कोई कुछ कहे भी तो मैं सुन लेता हूँ । तब भी लोग मेरा पीछा नहीं छोड़ते हैं । ऐसा क्यों होता होगा ? क्या इसमें मेरा कोई दोष है ? मैं सीधा चलता हूँ तो भी मेरे साथ अन्य लोग टेढ़े क्यों चलते हैं ?

श्रीमोटा : देखो भाई, इसमें तुमने एक बात सच कही किन्तु दूसरी बात भूल से युक्त है । यह सच है कि तुम्हारा उद्देश्य शांति और प्रसन्नता बनाये रखना है, किन्तु इस उद्देश्य पालन हेतु तुम्हारे अंदर जितनी सजगता होनी चाहिए उतनी नहीं है । इसके लिए स्वयं किस तरह शांति और

प्रसन्नता बनाये रखें ऐसे जागृत प्रयत्न हमें करना चाहिए । हमारे ऐसे जागृत प्रयत्नों के कारण हमारे कौटुंबिक व्यक्तिओं के जीवन में हमें दोष नहीं मिलेंगे । सचमुच तो हम अपने जीवन के उद्देश्य को सिद्ध करने हेतु पर्याप्त प्रयत्नों में अपना मन नहीं पिरोते । फलतः हमारा मन दूसरों के दोष देखने में लग जाता है । इसलिए सर्वप्रथम बात हमारे उद्देश्य को परिपूर्ण करने की सजगता अथवा जागृति और अपने उद्देश्य को फलित करने हेतु हमारे सजग प्रयत्न महत्त्वपूर्ण होते हैं ।

'अतएव, मुझे दुःख देने में दूसरों का दोष नहीं है, ऐसा मानूँ ?'

श्रीमोटा : मैंने कहा तो सही कि पूरा संसार दोषपूर्ण ही है । किन्तु हम किसी व्यक्ति के दोष को नहीं सुधार सकते । हमारे कहने से उनका दोष दूर हो जाएगा, ऐसा कभी नहीं होगा । यह निश्चित बात है । इस बात को बुनियादी fundamental रूप में तुम्हें स्वीकार करना चाहिए । हमारे कहने से दूसरे सुधरें और उनके सुधरने से हमें शांति मिलेगी । परिणामस्वरूप हम सुखी होंगे, यह समझ त्रुटिपूर्ण है । क्योंकि यह समझ अहम् प्रेरित है । अभी जहाँ तक हम स्वयं ही अहंता के दोष से पूर्ण हैं, वहाँ तक दूसरों के दोष को किस ढंग से सुधार सकते हैं ?

इतना ही नहीं, एक दूसरी बात – दूसरों के दोष को बार-बार सोचने से तथा दूसरों के दोष देखते रहने से हममें अशांति बढ़नेवाली है । यह बात भी निश्चित जानें । इसलिए तुम दूसरों के दोषों को देखना पूर्णतः छोड़ दो । संयुक्त कुटुंब में रहने से झगड़ा, संघर्ष, क्लेश, संताप, दुःख, उलझन आदि सभी हुआ ही करेंगे, क्योंकि संसार का यह स्वभाव है, गुणधर्म है । ●

३. संसार का गुणधर्म

॥ हरिः ॐ ॥

'संसार की ऐसी गुणधर्मवाली बातें कुछ विवरण के साथ समझाइए ।'

श्रीमोटा : इस अग्नि के गुणधर्म कैसे हैं ?

'जलायें ऐसे ।'

श्रीमोटा : और नर्क के गुणधर्म कैसे हैं ?

'दुर्गंध आ रही हो ऐसे ।'

श्रीमोटा : तुम उनका विरोध नहीं करते और इस सच का तुम स्वीकार करते हो, क्योंकि इस विषय की समझ तुम्हारे मन में पूरी तरह दृढ़ हो गई है । यह पूर्ण संसार अभी बताये अनुसार ऐसे गुणधर्मोंवाला है । अर्थात् संसार का यह लक्षण ही प्रमाण है । इसे स्वीकार कर लेने से हम में कुछ अंशों में शांति की भूमिका बनेगी ।

संसार के इसप्रकार के दोषों का कोई निवारण नहीं कर सकता ! तब भी जिज्ञासा रखनेवाले व्यक्ति में यदि सचमुच की तीव्र इच्छा और उत्कंठा हो तो वह स्वयं ऐसे दोष को अवश्य दूर कर सकता है । स्वयं में जो सांसारिक भाव है, स्वयं की जो जीवदशा है, ऐसी दशा–ऐसी स्थिति स्वयं को बहुत ही चुभेगी और इसके लिए उनके अंतर में बहुत ही पश्चाताप होगा तो स्वयं के ऐसे दोष से मुक्त हो सकता है । अन्यथा ऐसी की ऐसी स्थिति में फँसते ही रहेंगे । इसलिए यदि हम सांसारिक जीवों के दोषों को देखकर दुःखी होते रहेंगे तो हम स्वयं ही बेहाल बन जाएँगे । ●

४. तीन बंदर

॥ हरिः ॐ ॥

'मोटा, आपकी बातों से मेरा हृदय गद्‌गद हो जाता है, क्योंकि इस प्रकार मैं दुःख के कारणों की ओर गया ही न था । आपने विचार करने का दरवाजा खोल दिया है । किन्तु मोटा, अब प्रश्न यह है कि हमें किस भाव से व्यवहार करना चाहिए ?'

श्रीमोटा : फिर वही बात दोबारा तुम्हारे में दृढ़ता आये, इस उद्देश्य से कहता हूँ, क्योंकि ये बुनियादी बातें यदि तुम्हारे मन में दृढ़ न हो पाईं

तो सच्चे सुख का मार्ग भूलते जाओगे । तुम्हें यह बात ठीक से समझ लेनी चाहिए कि तुम्हारा जीवन तुम शांति और प्रसन्नता के साथ बिताना चाहते हो । ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए हमें जीवन में मंथन करना पड़ेगा ।

इसलिए जब भी मन दूसरे किसी के दोष देखने लगे कि तुरन्त ही हमें जागृत हो जाना चाहिए । यह निश्चित कर लें कि हमें दूसरों के दोष नहीं देखने हैं, क्योंकि यह सब तो संसार में स्वाभाविक गुणधर्मोंवाली है ही । इसके बदले हम स्वयं शांति और प्रसन्नता कैसे बनाये रखें, इस मंथन में हमें अपने मन को लगा लेना चाहिए । इसके लिए महात्मा गांधी ने अपने पास रखे तीन बंदरों के खिलौने को याद रखना चाहिए । किसी के दोष न देखें, किसी के दोष सुनने के लिए कान न लगाएँ और किसी के विषय में निंदात्मक न बोलें ।

इसलिए हरप्रकार से हमारे अपने मन की शांति कैसे बनी रहे उसकी अत्यधिक सावधानी रखेंगे तो दूसरों के दोषों की ओर दृष्टिपात करने से हमारा मन रुक जाएगा । शांति पाने का यही सच्चा मार्ग है । यदि किसी में अमुक प्रकार के दोष होंगे तो हममें भी किसी दूसरे प्रकार के दोष होंगे । हम सभी दोष से भरे हुए हैं । इसलिए हम किसी को भी कुछ कह सकें या कोई हमें सुधार सकें ऐसी स्थिति में नहीं हैं । ●

५. संत का स्पर्श

॥ हरिः ॐ ॥

'मेरे दुःख को बढ़ानेवाले स्वयं के दोष मैं देख सकूँ और हृदयपूर्वक स्वीकार कर सकूँ कि इसमें दूसरे किसी का भी दोष नहीं है, ऐसी शक्ति मुझ में कैसे जागृत हो सकती है ? किसी संत-महात्मा के बोधवचन से या उनके स्पर्श से या उनकी कृपा द्वारा मेरे जीवन के दोष दूर नहीं हो सकते ?'

श्रीमोटा : किसी साधु महात्मा के बोध से, स्पर्श से, कृपा से जीवन के दोष दूर हो जाते हैं, ऐसा मानने में नितान्त अज्ञानता है। तब भी इतना सच है कि जो संत-महात्मा संपूर्ण रूप से मुक्तावस्था प्राप्त कर चुके हों और ऐसे पद पर निरन्तर रहते हों, उनके साथ प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का हार्दिक परिचय हो। उस परिचय में जब हमारा हृदय लगा रहे और तल्लीन रहे, तब हमारे जीवन के हरेक क्षेत्र में उनका ऐसा परिचय स्पर्श पर्याप्त होता है। शेष ऐसे उच्चात्मा के केवल स्पर्श से ही सारे दोष दूर हो जाते हैं, यह बात सच नहीं है। दोष दूर करने के लिए एड़ी चोटी का कठोर पुरुषार्थ करना पड़ता है।

अब तुम्हारे पहले पूछे प्रश्न के विषय में कहता हूँ : हमें अपने दोष दिखें और दूसरों के दोष न दिखें, इसके लिए सबसे बड़ा पुरुषार्थ हमारे जीवन के उद्देश्य की जागृति पर निर्भर है। ऐसी जागृति आते ही अर्थात् मेरे सुख-दुःख के मूल में मेरी प्रकृति—मेरा स्वभाव कारणभूत है। इतनी चेतना से ही हम अपने हृदय में विराजमान निवास करनेवाले भगवान को प्रार्थना-भाव से शक्ति प्रेरित करने को कहें। हमें अपने में रहे दोषों को दूर करना है, ऐसी अपने हृदय की भावना से — आर्तता से और हृदय की आर्द्रता से कृपा, मदद और याचना का हृदय से ज्ञानभक्तिपूर्वक का प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसप्रकार के प्रयत्न से उनकी कृपाशक्ति हमें पार कर डालती है। इस बात को मैं तुम्हें स्वयं के अनुभव से कहता हूँ। ●

६. भगवान कहाँ है ?

॥ हरिः ॐ ॥

'आपने भगवान से प्रार्थना करने को सूचित किया है। किन्तु मोटा, भगवान है कहाँ ? यह समझ में नहीं आता। आपने कहा कि हृदय में बिराजे हुए भगवान को कहें। किन्तु हृदय में हृदय की गहराई में दीखने तो चाहिए ?'

श्रीमोटा : यह बात गहन है, तब भी सरल है । भगवान प्राणीमात्र के हृदय में निवास करते हैं पर वे प्रत्यक्ष नहीं । किसी संत-महात्मा के हृदय में भगवान का रूप प्रकट हुआ होता है । इससे जिसके हृदय में भगवान के गुणधर्म प्रकट हो गये हों, जिनके पास बैठने से शांति, प्रसन्नता, समाधान मिलता हो, ऐसे पुरुष आत्मज्ञानी होते हैं । वे प्रगट पुरुष कहलाते हैं । वे सतत अपने परमात्मा के अनुभव में जीते हैं और ऐसी अनुभव दशा में जागृत होते हैं । इसीलिए हमारी संस्कृति में 'जागते नर' का संग करने को कहा गया है । ऐसे लोग भगवान की 'सजीव मूर्ति' समान होते हैं, किन्तु ऐसे बहुत कम होते हैं और फिर ऐसे लोग सहज सरलता से पहचाने जाएँ ऐसा भी नहीं होता । जीवन में जिसे ऐसे संत-महात्मा से मिलन हो जाए, वे बहुत भाग्यशाली हैं, ऐसा मानना ।

हमारे हृदय में भगवान है किन्तु वे अप्रगट हैं । जब कि ऐसे मुक्तात्मा में यही भगवान प्रकट हुए होते हैं, इसलिए ऐसे संतात्मा के प्रति यदि दिल से प्रार्थना की जाय तो, तुम्हारे पुरुषार्थ में उनकी सशक्त सहायता प्राप्त होती है ।

'आपने जो ये लक्षण बतलाए हैं, उन्हें मैं आप में अनुभव करता हूँ । आप ही मेरे प्रगट प्रभु हैं, इसप्रकार मैं मानूँ तो यह मेरे लिए उपयुक्त होगा?'

श्रीमोटा : इस बात में किसी का कहा या किसी का माना गया प्रमाण नहीं माना जा सकता । 'यह जीव' विषयक (अपने विषय में) किसी का भी, कुछ जानकारी या मान्यता मैं स्वीकार नहीं करता । प्रत्येक जीव अपने अनुभव को प्रमाण माने और तुम्हें यदि ऐसा अनुभव होता हो तो भी प्रत्यक्ष लक्षण के बिना स्वीकार नहीं करना चाहिए ।

तुम्हें तो अपने विषय में ही सोचना चाहिए । कुछ देखने से या किसी के कहने या मान्यता को मान लेने से अपनी विचारशक्ति क्षीण होती जाती है । तुम्हें मेरी यह बात पूरी तरह से समझ में न आती हो, किन्तु तुम गहराई से सोचकर चिंतन करोगे तो समझ जाओगे ।

विशेष बात तो यह है कि आत्मा में – चेतन में – भगवान में जो निष्ठा प्राप्त कर चुके हैं, वे शरीररूप में होते ही नहीं हैं । उनकी अनुभव अवस्था में वे अमर्यादित–अनंत में विचरण करते होते हैं । इससे आत्मरूप में वे जीवमात्र में जुड़े हुए होते हैं । किन्तु जो जीव समय-संयोग के कारण उनके स्थूल रूप या सूक्ष्म रूप के साथ सम्पर्क में आता है, उसका वे करुण भाव से स्वीकार करते ही हैं । ऐसा होना ही सहज अवस्था है । इसमें उसका प्रयत्न होता ही नहीं है । ऐसे पुरुष का देह अस्तित्व में न हों तब भी उनका अक्षरस्वरूप या उनकी हृदय भावना का कोई कीर्तन यदि किसी जीव को आकर्षित करे तब भी उनकी चेतना ऐसे आकर्षण को स्वीकार करती है । ●

७. घातक आंदोलन

॥ हरिः ॐ ॥

'मोटा, भगवान के रूप की ऐसी समझ से भी मुझे आपका भगवद् रूप स्वीकार्य है । आपने इतना बतलाकर उपकार किया । अब मूलतः सत्संग पर आता हूँ । भगवान को प्रार्थना कर, कृपा सहायता की याचना कर, अपने दोष देख-देखकर निवारण करने की बात तो समझ आयी। तब भी दूसरों के दोष दिखें तो हमें इससे कुछ हानि होगी सही ?'

श्रीमोटा : सर्वप्रथम हानि तो तुम अनुभव कर रहे हो । तुम दुःख अनुभव करते हो, वह कम नुकसान है ? हमें दूसरों के दोष देखकर उकताहट होने लगती है और हम अशांति का अनुभव करने लगते हैं । यह ऊब और अशांति की सबसे बड़ी हानि है, क्योंकि शांति और प्रसन्नता का हनन करनेवाले ये आंदोलन हैं । दूसरों के दोषों का विचार करने से हमारी बेचैनी बढ़ती है । हम उलझन में पड़ने लग जाते हैं । इतना ही नहीं, जिसके दोषों को देखा हो या विचार किया हो, उससे हमारा मन चिढ़ता है, गुस्सा भी आता है ।

अब हम जिस पर चिढ़ते हों या जिस पर हमें गुस्सा आता हो वह व्यक्ति हमारे मन में प्राधान्य लेने लग जाता है । उस व्यक्ति के दोष देखने में हमारा मन उस समय जागृत होने से इसीप्रकार के दोषवाले आंदोलन उस व्यक्ति की तरफ फेंकने शुरू हो जाते हैं । परिणामस्वरूप उस व्यक्ति के मन में भी हमारे विषय में इसी प्रकार के दोषारोपणवाले संस्कार पड़ते हैं और उस व्यक्ति में भी हमारे भविष्य के दुःखों का मूल दूसरे के मन में रोपना शुरू कर देते हैं । इस सूक्ष्म क्रिया का हमें ज्ञान नहीं है ।

'यह तो अद्‌भुत और सूक्ष्म बात है ।'

श्रीमोटा : इससे भी विशेष – किसी के विषय में अन्यथा रूप में देखने या सोचने से हम स्वयं तो दुःखी होते हैं, किन्तु दूसरों को भी दुःखी करते हैं । इस प्रकार हम अशांति की लहरों को अत्यधिक मात्रा में और विशाल वर्तुल के रूप में विकसित किया करते हैं । इसलिए दोष को टालने का सही उपाय है, हमें स्वयं ही दोषमुक्त होना है । दूसरों के दोष से अशांत रहना, यह तो हमारी अज्ञानदशा का परिणाम है । वस्तुस्थिति की रचना की दशा का या उसकी योग्य जानकारी – उसके योग्य ज्ञान और उसकी वास्तविकता को यदि हम समझें तो हमें दुःख नहीं होगा ।

जब नर्क दुर्गंधित होता है, तब हममें कुछ भी अन्यथा रूप प्रगट नहीं होता, क्योंकि हम जानते हैं कि दुर्गंध फैलाना, यह नर्क का स्वभाव है । इसीप्रकार दूसरों में दोष होना – संसार में दोष होना यह गुणधर्म है । इससे हमें व्याकुल नहीं होना चाहिए । ●

८. सभी असमर्थ!

॥ हरिः ॐ ॥

'किन्तु मोटा, हम किसी अन्य के दृष्टिबिन्दु को समझना चाहें तो दूसरों को हमारे दृष्टिकोण को भी समझना तो चाहिए?'

श्रीमोटा : तुम्हारे इस प्रश्न में बुनियादी भूल है यानी कि समझ का अंतर है । कोई भी दूसरों के दृष्टिबिन्दु को समझने का जरा भी प्रयत्न

नहीं करते, क्योंकि प्रत्येक जीव दूसरों को स्वयं के ढंग से ही समझने का प्रयत्न करता है और अपनी समझ अनुसार ही दूसरों के विषय में सोचता है । किसी भी भाव के प्रति सामनेवाले व्यक्ति का क्या दृष्टिबिन्दु है; उसकी उसमें किस प्रकार की समझ है, वैसे भाव के प्रति वह व्यक्ति किस तरह सोचता है तथा उसका क्या उद्देश्य है – ये सारी बातें हमारे ख्याल में कभी नहीं आ पाती हैं ।

इसलिए जब भी दूसरे किसी के विषय में कुछ भी सोचना हो, तब दूसरे की स्थिति में स्वयं को रखकर, बाद में सोचें तो तब भी कुछ ठीक है । परन्तु उस प्रकार दूसरों की स्थिति की परख करने की मेरे-तुम्हारे जैसे के लिए संभव नहीं, क्योंकि हम पूरी तरह से दूसरों में उनके उस भाव की समझ की दिशा में पूरी तरह से डूब सकें, ऐसी स्थिति में भी नहीं होते । इतना ही नहीं ऐसा करना हमारे लिए दुर्लभ होता है, क्योंकि हम में उतने प्रमाण में समता, शांति और तटस्थता की स्थिति नहीं होती है। जिनमें ज्ञानभक्तियुक्त पूर्णरूपेण योग्य प्रकार की उच्च स्थिति की समता और तटस्थता जागृत हो चुकी हो, ऐसी आत्मा दूसरों की स्थिति में भगवान की कृपा से प्रवेश कर सकती है । अर्थात् हम दूसरों को समझने की अच्छी स्थिति में प्रविष्ट हो, उसे समझने की पूर्ण योग्यतावाले नहीं हैं, यह निश्चित बात है । इस जगत में किसी को पूरी तरह से जान पाने में कोई समर्थ नहीं है । ●

९. अंतर्मुखता की आवश्यकता

॥ हरिः ॐ ॥

'मोटा, सामान्य रूप से - बहुत ही साहजिक रूप से दूसरों के ही दोष देखने के लिए क्यों प्रेरित हो जाते हैं ?'

श्रीमोटा : इस जगत में - इस संसार में, प्रत्येक जीव दोष करने में तथा दूसरों के दोष देखने को क्यों प्रेरित होता है – उसके कारण भिन्न

हैं । हर बात में हमारा मुख दूसरों की ओर ही मुड़ जाता है । उसका मूल कारण तो यह है कि हममें अभी पूर्ण अंतर्मुखता वस्तुतः जागृत नहीं हो पायी है । जिस जीव का हृदय में हृदय की हृदय से सचमुच की अंतर्मुखता प्रकट हो चुकी है, ऐसे जीव को दूसरों के बारे में सोचने का कभी भी भाव नहीं जागता है ।

'मोटा, आपने यह कुछ कठिन बात कर डाली । अंतर्मुखता अर्थात् समझ में आता है कि अपने स्वयं के अंतर में झाँकना यानी कि हमारा स्वभाव कैसा है, हमें विचार कैसे आते हैं, यह सब कुछ जानना । किन्तु 'हृदय' शब्द का आपने तीन बार प्रयोग किया, यह समझ में नहीं आया ।'

श्रीमोटा : देखो भाई, मानवमात्र में हृदय ही उसका सच्चा केन्द्र स्थान है । वही भावस्थल है । हम जहाँ से संसार के भाव, तरंगों आदि का अनुभव करते हैं, वह हृदय है । किन्तु वही हृदय जैसे-जैसे विकसित होता जाता है वैसे-वैसे ऊर्ध्वकक्षा का होता जाता है । अतएव, हृदय शब्द का तीन बार जो प्रयोग हुआ उसमें अनुभव-विकास के संदर्भ में कक्षा भेद सूचित है ।

हम अभी जो जी रहे हैं, वह जीवदशा का जीवन है । इसलिए इसमें संताप, क्लेश, दुःख, झगड़ा, ऊब आदि अनुभव करते हैं । अब यदि हम इन सबको टालने के लिए तीव्र इच्छा रखते हों, तो तीव्रेच्छा मन के तुक्के से या बुद्धि की समझ से जन्म नहीं ले सकती । इसके लिए हृदय का प्रबल वेग होना चाहिए । तभी तीव्रेच्छा की अग्नि प्रकट हो सकेगी और इसप्रकार की हृदय की आतुरता ही हमारे वर्तमान जीवन की स्थिति में से हमें बाहर ला सकती है । इसे जीवनविकास के क्रम के रूप में समझ सकते हैं । ऐसा जीवनविकास साधे बिना तुम सच्चे सुख के मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकते । तुम्हें स्थायी सुख चाहिए या अवसर विशेष मात्र का सुख प्राप्त करना है ?

'मोटा, अवसर विशेष का सुख तो कभी भी प्राप्त होता जाता है और चला भी जाता है । अतएव स्थायी सुख प्राप्त करने का रास्ता खोजना चाहिए न ?'

श्रीमोटा : हाँ, यह तो ठीक है । इसलिए जिस व्यक्ति को जीवन-विकास की साधना करनी है, ऐसे जीव को अंतर्मुखता के अभ्यास का प्रयत्न सतत करते रहना चाहिए । अंतर्मुखता प्राप्त किये बिना उससे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता ।

इस मार्ग पर गतिशील अर्थात् प्रभु के पावनकारी पथ पर चलनेवाले साथी ही मेरे संपर्क में आये । कितने ही जीवों का भाव अभी पूरी तरह से अंतर्मुख नहीं हुआ है । इसका मुझे बार-बार पता चलता रहता है और इससे मुझे प्रभुकृपा से भास का अनुभव होता रहता है ।

हमें यदि काशी की ओर जाना हो पर मुँह और गति मक्का की ओर रखें तो वह बिलकुल धूर्तता कही जाएगी । ●

१०. निवेदन

॥ हरिः ॐ ॥

'हमें दूसरे में दिखते दोष का तथा उससे हम में होनेवाली आकुलता का निवारण कैसे करना चाहिए ?'

श्रीमोटा : हमारा निजी कोई स्वजन हो, उसके लिए हम भावुक हो जाते हैं । उनके दोष देखकर यदि हम व्याकुल हो उठते हों या मन में झुँझलाया करते हों तो ठीक उसी समय ही नहीं किन्तु शान्त हों ऐसे समय में अत्याधिक नम्रता से, हृदय की मार्दवता से और दिल के प्रेमभाव से सामनेवाले स्वजन को आत्मनिवेदन भाव से सब कुछ कहकर हमें हल्का हो जाना चाहिए ।

'नम्रता और मार्दवता से कहना यानी किस ढंग से कहना चाहिए?'

श्रीमोटा : हम शांत हो गये हों पर अंदर से अशांत हों । अर्थात् हम ही सही हैं ऐसी हमारी वृत्ति पक्की हो जाती है । शांति के कारण हमें

हमारी ऐसी वृत्ति का समझपूर्वक त्याग करना चाहिए । इतना अहंकार न होने दें । इससे हम नम्रभाव से प्रवेश कर सकेंगे । हृदय की मार्दवता यानी सामनेवाले व्यक्ति के लिए कठोरता या द्वेषभाव या बदला न लेने की सजगता बनाये रखना । इससे सामनेवाले व्यक्ति का दोष हमारे दिल में प्रवेश कर लेने पर भी वह ठसेगा नहीं । उसके बाद हमें सामनेवाले व्यक्ति में जो कुछ भी दोष दिखाई देते हों, वे सभी दोष उनके नहीं हैं, किन्तु हमारे अपने ही हैं । ऐसा भावनात्मक स्वीकार कर हम स्वयं अपने को ही कहते हैं, ऐसा भाव धारण कर कहना । अर्थात् सामनेवाले व्यक्ति को मुँह पर न कहें पर, यह सब जो हम में जागा था और अभी भी पड़ा हुआ है, उसे खाली कर देने के भाव से हमें स्वयं को ही सुनाई दे ऐसे निवेदन करना चाहिए । ऐसा अभ्यास करने से सामनेवाले व्यक्ति के दोष देखना कम होगा । इसके साथ ही सामनेवाले व्यक्ति के दोषों को बार-बार मन में प्रकट होना, यह हमारी अपनी कमजोरी है । इस सत्य को हमें ठीक से समझने की आवश्यकता है और ऐसा करने से हम यह समझ सकेंगे ।

मेरी इस बात को तुम खूब शान्त चित्त से सोचना और प्रयोग करके देखना । ●

११. दोष के विचार से दोष के संस्कार

॥ हरिः ॐ ॥

'दूसरों के दोषों को निवारने से तथा हम ही सही हैं और दूसरे गलत हैं, इस समझ में रही सूक्ष्म भूल समझ में आने लगती है। मोटा, इसप्रकार से दोष देखने के संस्कार हम में पड़े ही होंगे न ? ऐसे संस्कारों से भरा यह संसार क्या ऐसा ही रहेगा ?'

श्रीमोटा : हम जगत को सुधार नहीं पाएँगे और सभी को अपनी-अपनी गति में बहते रहनेवाले हैं । हम उन्हें नहीं रोक सकते । तो फिर हम क्यों नाहक में दुःखी हों ?

अपने मन में दूसरों के दोष बार-बार देखकर तथा उसी प्रकार के विचार बार-बार करके हम अपने चित्त में दोष के ही संस्कार डालते हैं । जिस प्रकार के संस्कार पड़ेंगे, उसी प्रकार से जीवन का निर्माण होता है यों समझना चाहिए । इसलिए हमारे मन में ऐसे दोषों का स्फुरण हो उस समय जाग्रत हो विचारना चाहिए कि क्या हमें इस प्रकार के संस्कार डालकर इस प्रकार जीवन-निर्माण करना है ?

हमें अभी जीवन-विकास की सही तमन्ना नहीं जागी है । इसीलिए हमारे सामने ऐसे सारे प्रश्न खड़े हो रहे हैं । किसी को समझाने से भी उसके दोष दूर होते हैं, यह मान्यता भी सच नहीं है । किन्तु ऐसे व्यक्ति को जहाँ तक लगता नहीं, चुभन नहीं होती है या वेदना नहीं होती है, साथ ही उसे उसका पूरी तरह पश्चात्ताप नहीं होता है, तब तक वह जीव उसमें से बाहर नहीं निकल पाएगा, यह निश्चित है ।

इसलिए हमें सुखी होने का मार्ग स्वयं ही खोज निकालना है और उसके लिए प्रयत्नशील रहना है । संसार में दूसरे व्यक्तिओं के लिए हमारे हिस्से में जो-जो व्यवहार आया हो, उसे हम प्रेमभाव से, अपने विकास के उद्देश्य के पैमाने से, उनके प्रति सद्‌भाव रखते हुए श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ यदि व्यवहार करेंगे तो इस प्रकार के सदाचरण में से हमें शांति प्राप्त होगी, यह निश्चित है । ●

१२. सत्पुरुष की सहायता

॥ हरिः ॐ ॥

'आपने प्रभुप्रीत्यर्थ आचरण करने को कहा, इसमें पूर्णरूप से समझ में नहीं आया । आपने बतलाया इस ढंग से आचरण करने के लिए आपकी सहायता नहीं मिल सकती ? आप समर्थ हैं । आप में चेतन प्रगट है तो हमें अपनी सहायता से क्यों वंचित रखें ?'

श्रीमोटा : (उग्र आवाज में) इस जीव में सामर्थ्य है और चेतना प्रगट हुई है । ऐसा कहने के पीछे तुम्हें कोई सुध-बुध है या नहीं ? जिसमें

रहे चेतन के सामर्थ्य को सहज भी अनुभव जिसे हुआ हो वह ऐसा दुर्बल हो सकता है सही ? अनुभव बिना की ऐसी कोरी बातें नहीं करनी चाहिए ।

प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने आपकी मदद कर सकता है । मैं भी भगवान की चेतनाशक्ति का मिट्टी का एक टूटा-फूटा खिलौना ही तो हूँ न ? ध्यान रखकर सुन लो कि मदद देकर, दी नहीं जा सकती, मदद देने की बहुत सारी इच्छा आतुरता भी होती है । किन्तु उस क्षण ऐसे मददकर्ता की अधीरता का अंदाजा कौन-सा मनुष्य माप सकता है ?

इसलिए यदि हम प्रत्येक पल जीवन्त चेतनाशक्ति से भगवान की प्रेमभावयुक्त स्मृति में रहने का अभ्यास रखा करेंगे और हमारे सभी कर्म में, भगवान के भाव हेतु – यानी जो कुछ भी कर्म करें उस समय उस कर्म के कर्ताभाव त्यागने के भाव सहित – हम सभी सक्रिय रहने का जीवित अभ्यास आगे बढ़ाते रहें, तो तुम जिसकी मदद चाहते हो उसकी मदद मिलेगी ही ।

'हम मानते हैं, इसलिए आपको कहता हूँ; अन्यथा ऐसा मुझसे बोला जाए ?'

श्रीमोटा : ऐसा नहीं है । हम कुछ भी कहते हैं, तब हम उसका सही भावार्थ नहीं समझते हैं । खाली खाली मानने की बात मैं स्वीकार नहीं कर सकता । प्रत्येक भाव का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए ।

तुम जिसे मानते हो, उसकी चेतनाशक्ति को अपने आधार पर अपने व्यवहार में, अपने विचारों में, अपने कर्म में, अपनी भावना में कितने समय तक मूर्तिमंत कर पाते हो ? अपना आधार यानी हमारा हृदय एवं अपना अंतःकरण—मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम्—कितने समय उसमें होते हैं ?

मैं तो कहता हूँ भला ! हृदय की शुद्ध निर्मल भावना से उसका पूर्ण प्रयोग तो करो । उसे तुम्हारे आधार पर काम करने देने की अनुकूलता

कर डालो । अनुकूलता कर देना या सुविधा कर देना अर्थात् उस चेतन पुरुष को दृष्टि के सम्मुख प्रस्तुत कर दिल की सारी बातें कह डालें । तुमने अपने मनादिकरणों में सब भरकर रखा है, उसे खाली कर, उसे कार्य करने की जगह कर ड़ालें और फिर देखें मदद खड़ी है या नहीं ?

यदि तुम जीवन को सनातन सुख के मार्ग पर ले जाना चाहते हो, तब यह बात आती है । जीवन को ऊँचाई पर ले जाने की तमन्ना हो तभी यह बात उपयोगी हो सकती है ।

'मोटा, आप 'दिव्य जीवन' प्रकट करने की बात करते हैं न?'

श्रीमोटा : 'दिव्य जीवन' जैसा भारी शब्द का उपयोग मैं नहीं करता । किन्तु जीवनविकास सभी की समझ में आये, ऐसा शब्द है । हम जिस प्रकार का जीवन जी रहे हैं, उससे तुम्हें संतोष, शांति या सुख प्राप्त हुआ ? तो फिर ऐसी स्थिति में कब तक पड़े रहना है ?

हम में जीवन का सचमुच का महत्त्व पनप ही नहीं पाया है । जीवन का विकास करना यह कोई हँसी-खेल की बात नहीं है । किन्तु ठोस प्रयोगात्मक यथार्थ है । अभी भी हम बहुत मन में डूबे रहते हैं । ऐसे तो महत्त्व की दृष्टि से देखें तो यह तुच्छपन-trifles भी निरर्थक नहीं है, इसमें भी चेतनाशक्ति निहित है । ऐसा भाव हमारे मन में बना रहे तो यह trifle नहीं है । संसार में भी हम ऐसा चेतनात्मक भाव रख कर व्यवहार करेंगे तो संसार भी संसाररूप में नहीं रहेगा । इस भावनात्मक रूप में पूरी सजगता से व्यवहार करने से हम प्रभुप्रीत्यर्थ आचरण कर सकेंगे । ●

१३. अधोगामी वृत्तियाँ

॥ हरिः ॐ ॥

'मोटा, इस संसार-व्यवहार में ऐसी भावना से आचरण करना सरल तो नहीं है, क्योंकि अधोगामी वृत्तियाँ एवं मनोवृत्तियों पर झुकाव होता है । उस समय अपनी स्थिति की समझ आती है । ऐसी वृत्तियाँ जगें उस समय क्या करना चाहिए ?'

श्रीमोटा : संसार की कोई भी वृत्ति या भावना अधोगामी नहीं है, किन्तु हमारे मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् ने इसे अधोगामी बना दिया है । मानवहृदय की - मानवजीवन की सभी वृत्तियाँ परममंगलकारी प्रभु की चेतना-शक्ति के आविर्भाव के भिन्न-भिन्न पहलू हैं । यह तो बिलकुल नयी ही प्रकाश डालनेवाली बात कही !

चेतन के आविर्भाव रूप में इन वृत्तिओं में हम अपने स्वभाव द्वारा अन्य भावों का आरोपण करते हैं तथा ऐसी भावना को अलग दिशा दे देते हैं । परिणामस्वरूप हम इन वृत्तिओं के कल्याणकारी स्वरूप को विकृत रूप में देखते हैं । हमारे करण—मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहं—यानी कि हमारा स्वभाव चेतनाशक्ति के तत्सम्बन्धी आविर्भाव को अपने-अपने ढंग से ग्रहण करने लगता है, इसलिए मनुष्य उसका सही स्वरूप कैसे प्राप्त कर सकता है ?

'तो फिर उसका सही स्वरूप कैसे प्राप्त करना चाहिए ?'

श्रीमोटा : इसके लिए, एक ओर से तत्सम्बन्धी कारणों की पार्थिव भूमिका हमें छोड़नी ही होगी और दूसरी तरफ से उस चेतनाशक्ति की भावना हमारे इस व्यवहार में, संबंध में, विचार में, वृत्ति में, भावना में और कर्म में आचरणमूलक ज्ञानभक्तिपूर्वक का अभ्यास हमें करते रहना ही पड़ेगा ।

संसार में कुछ भी व्यर्थ नहीं है । मनुष्य जिसे बिलकुल खराब गिनता है, वह भी बिना काम का नहीं है । जो खराब गिना जाता है या खराब है, इसका कारण हम उसे इस ढंग से देखते, मानते, गिनते और उपयोग करते आये हैं, वह है, अन्यथा कुछ भी खराब नहीं है ।

हमें इस संसार में हर किसी घटती घटनाओं को अपने स्वयं के स्वभाव की मर्यादा में मूल्यांकन नहीं करना चाहिए । इसी का अर्थ है अपने अंत:करण का पार्थिवपन का त्याग । काम, क्रोध, चिढ़ना, ऊब आदि वृत्तियाँ होती हैं, यह ठीक हैं, ऐसा उन-उन वृत्तिओं को आधार नहीं

देना है, किन्तु उन वृत्तिओं में जो चालकशक्ति विद्यमान हैं, उस शक्ति की धारणा इसे रखकर उस शक्ति का उपयोग हमें अपने जीवन को विकसित करने में करना चाहिए। इस अर्थ में सब कुछ भगवानमय है, ऐसी भावना रखनी है। हमारे सारे जीवन व्यवहार में ऐसी भावना का अभ्यास जागृत रूप के साथ ही आनंदपूर्वक विकसित करना है।

इतना ही नहीं, ऐसा अभ्यास भी अपने स्वयं के अहंकार द्वारा हो सके ऐसा नहीं है। इसलिए इसप्रकार के अभ्यास अंतर्गत अपने हृदय में ध्यान रखते हुए हृदय की आर्त और आर्द्र पुकार से भगवान की कृपा हेतु प्रार्थना करनी होती है। इस ढंग से हम सतत करते रहेंगे तो हमारे जीवन के अंतर-बाह्य व्यवहार में तारतम्यता, रागात्मकता और साम्यता आती जाएगी। ऐसे पलों में हमें भगवान की कृपा के दर्शन हुए बिना नहीं रहेंगे! ●

१४. सावधान सद्भागी

॥ हरिः ॐ ॥

'आपकी बात में तो समझ, ज्ञान, भक्ति, सब कुछ एक साथ आवश्यक लगते हैं। अभी तक हम आपके बतलाये अनुसार ऐसी प्रभु की कृपा के दर्शन नहीं कर पाये हैं – यह हमारा दुर्भाग्य नहीं कहा जाएगा ?'

श्रीमोटा : नहीं दुर्भाग्य नहीं है, क्योंकि हमारे जीवन में ऐसे प्रश्न भी जागते हैं। किन्तु अभी इस जीवन के विषय में हम में पूरी जागृति एवं जागृत रहने की तमन्ना नहीं है। यही मुख्य कमी है।

हम इसप्रकार जागृत रहकर आचरण करते समय भावना दृढ़ नहीं रख पाते, यह भी एक कारण है। हम अपनी मानसिक वृत्तिओं–विचारों का अभी भी तटस्थ ढंग से पृथक्करण नहीं कर पाते हैं। फिर, मन आदि करण में जो कुछ भी है, उसे योग्य रूप से पहचानते नहीं हैं और ऐसे अयोग्य रुख या वृत्ति दृष्टिगत हो, तब भी उसे प्रेमभाव से समझकर उसका

पुनः उद्‌भव न हो, ऐसा सजग चेतनामय प्रयास हमसे नहीं हो पाता है। ऐसे सजग जागृत प्रयास को मैं तो 'दर्शन या कला' रूप में पहचान देता हूँ। यह सब उसके योग्य प्रमाण में नहीं हो पाता है।

मेरी तुम से भेंट हुई, यह सद्‌भाग्य है। जो स्वयं के पुरुषार्थ से नहीं हो पाता है। यह चेतना में चेतनवन्त पुरुष के ज्ञानभक्तिपूर्वक तल्लीन रहे दिल के परिचय से साधा जा सकता है। किन्तु जिस उचित भावनात्मकता रूप से ग्रहण करना चाहिए, वह भी तुम से नहीं हो पाता है। इसलिए आप सभी को कहता हूँ कि अब तो सावधान होना पड़ेगा। ●

१५. सुख की खोज

॥ हरिः ॐ ॥

'मोटा, फिर अपने मूल विचार पर आऊँ। हमें सुख अच्छा लगता है और दुःख अच्छा नहीं लगता। दुःख से भागकर सुख को खोजने का मन क्यों हुआ करता है? सुख और दुःख दोनों प्रकार की भावना का मूल किसमें होगा?'

श्रीमोटा : हम में सुख और दुःख की भावना विद्यमान होती है, यही बात बतलाती है कि हम में आसक्ति है। प्रत्येक प्रकार की भावना के मूल में आसक्ति होती है। आसक्ति अर्थात् किसी भावना के प्रति ममतापूर्ण पक्षपात। भावना के ऐसे ममतामय पक्षपात से राग और द्वेष पैदा होते हैं। उसमें से सुख-दुःख के द्वन्द्व उपस्थित होते हैं।

अब मनुष्य का सामान्य रूप से ऐसा स्वभाव हो गया है कि वह अपना सुख खोजता है। अपने सुख की तीव्र खोज में उसे जगत की अनेक वस्तुओं में आसक्ति हो जाती है। इससे प्रकृति के नियमानुसार भटकने गयी नाव हवा के जोर से महासागर में कहीं भी बहकर नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति एवं वस्तुओं की आसक्ति के बहाव में मनुष्य खिंचता जाता है। सुख की खोज में पड़े होने पर भी इस तनाव में वह खिंचता जाता है, टकराता है और दुःखी भी होता है।

यदि हम गंभीर भाव से और शांत चित्त से अपना पृथक्करण कर देखेंगे तो समझ में आ जाएगा कि हमारे प्रत्येक कार्य में किसी न किसी प्रकार की सूक्ष्म आसक्ति बनी रहती है । यदि कोई भी शरीरधारी मनुष्य अपने अंदर दृष्टि करे तो वह इस बात से इन्कार नहीं कर सकता । क्योंकि आसक्ति शरीर के साथ जुड़ी हुई है । आसक्ति बिलकुल न हो तो अहम् का संपूर्ण लय हो गया हो ।

'अब यदि आसक्ति शरीर के साथ ही जुड़ी हो तो फिर आसक्ति के जाने पर मनुष्य का शरीर भी नष्ट हो जाएगा, सही है न ? अर्थात् शरीरधारी कोई भी व्यक्ति कभी भी संपूर्ण सुखी नहीं हो सकता ।'

श्रीमोटा : देखो भाई, हम स्थूल आसक्ति से सूक्ष्म आसक्ति तक पहुँच गए । रामकृष्ण परमहंस ने ऐसा कहा है कि शंकराचार्य जैसे आत्मज्ञानी पुरुष भी ज्ञानप्रसार के लिए एक प्रकार का सात्त्विक अहम् रखते थे । अर्थात् किसी भी प्रकार के कर्म आसक्ति बिना नहीं हो सकते । कुछ भी करने की इच्छा बिना कोई भी प्रवृत्ति या कर्म उद्भवित नहीं हो पाता । इच्छा आसक्ति का ही लक्षण है ।

इसप्रकार, आसक्ति सूक्ष्म या सूक्ष्मतम रूप में भी रहा करती है । इसीलिए ही इस इच्छा के भाव के सामने सावधान रहने की आवश्यकता है । इसमें आसक्ति निर्मूल नहीं हो सकती और कर भी नहीं सकते । किन्तु इच्छा-कामना-आसक्ति को यथायोग्य रूप में लाकर उसका उपयोग करना है । अब यह आसक्ति सूक्ष्म और सूक्ष्मतम होने से मनुष्य सभी इन्द्रियाँ भोग्य वस्तुओं के प्रति आसक्ति बढ़ती जाएँगी । इन्द्रियों के पास भोगने की शक्ति मर्यादित होने से वह थककर क्षीण हो जाएँगी । परिणामस्वरूप आसक्ति का तनाव इतना अधिक तीव्र होने से मनुष्य जीव दुःख ही प्राप्त करेंगे ।

आसक्ति में सूक्ष्म इच्छाओं को पोषित करने की वृत्ति रही होती है । इससे मनुष्य किसी न किसी इच्छा को पूर्ण करने में ही जीवन बिता

डालता है । किन्तु उसका सामान्य रूप से उसे भान नहीं होता । हम जरा गहराई में उतरकर अपनी स्वयं जाँच करें तो पता चलेगा कि हमारी आँख, कान, त्वचा, जीभ आदि सभी इन्द्रियाँ अरे, इतना ही नहीं, समग्र रूप से हम जिसे हम कहते हैं, वह भी किसी न किसी आसक्ति में फँसकर मिठास का अनुभव करता है ।

यह मिठास इन्द्रियजन्य है । इन्द्रियों के संतोष के लिए है । इसलिए जहाँ तक हम उसे प्रयत्नपूर्वक निःस्वार्थी न बना सकें, ऐसी आदत के प्रवाह को न मोड़ सकें, तब तक इन्द्रियाँ सारी वस्तुओं को अपने विषय में स्वच्छन्दतापूर्वक डूबी रहेंगी । बहुत से लोगों को इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में डुबा कर ही रखती हैं, इसकी सुध भी नहीं रहती । ●

१६. इन्द्रियरस का परिणाम

॥ हरिः ॐ ॥

'हमें ऐसी स्थिति की सुध-बुध, सचमुच नहीं है । हमें इस विषय में समझ कब आएगी ?'

श्रीमोटा : यह तो तुम जैसे-जैसे प्रभु के मार्ग—साधना के पंथ पर गहरे उतरोगे वैसे-वैसे यह समझ आएगा कि अभी तक हमने निर्दोष मानी प्रवृत्ति का मूल तो आसक्ति है । हम इन्द्रियों के उपभोग की वृत्ति के कारण प्रवृत्तिमय रहते हैं । इसका जागृत ख्याल हमें नहीं है । इसी कारण से हमें जागृतिपूर्वक इन्द्रियों की आदत के प्रवाह को सही दिशा देते रहना है ।

जहाँ तक इन्द्रियाँ सभी वस्तुओं के अपने विषयों में स्वच्छन्द रूप से डूबी रहेंगी और उस मकड़ी की तरह अपने स्वयं के आसपास ही बड़ा जाला खड़ा करने में सहायक होंगी और अंत में उस जाले में से बाहर निकलने का मार्ग ही रखा न होने से अपना ही नाश करेंगी । इन्द्रियों को अपने विषयों में ऐसा प्रबल सुख मिलता है कि ऐसे सुख के पीछे रहे भारी दुःख का हमें विचार कभी-कभी उठे, तब भी, हम उसमें डूबते ही जाते हैं ।

हम जिन-जिन प्रवृत्तिओं को 'अशुभ' रूप में पहचानते हैं, ऐसी प्रवृत्तिओं की ओर जब हमारी इन्द्रियाँ खिंचती चली जाती है, तब हमें पता तो होता है कि, 'यह कार्य करने जैसा नहीं है।' तब भी हमारी इन्द्रियाँ अनाधिकार चेष्टा कर अपना वांछित करवा डालती हैं। परिणामस्वरूप स्वाभाविक रूप से ही दुःख पैदा होने लगता है। इस तरह से उत्पन्न सुख-दुःख को रोकने के लिए सर्वप्रथम हमें संस्कार शुद्धि हेतु समर्थ प्रयत्न करने चाहिए। ●

१७. प्रभुकृपा से प्रतिकार

॥ हरिः ॐ ॥

'मोटा, इन्द्रिय लालसा की पकड़ से निकलना सचमुच बहुत ही कठिन काम है। यह तो आपकी कृपा हो तो हो सकता है, क्योंकि हम तो इससे बंधे हैं। आप मुक्त हैं, तो आप ही इन सबसे हमें अलग रख सकते हैं न ?'

श्रीमोटा : एक ढंग से देखें तो तुम्हारी बात सही है। किन्तु केवल कृपा की याचना करने से काम फलीभूत नहीं होगा। तुम्हारा पुरुषार्थ तो होना ही चाहिए। तुम में बहुत-सी शक्तियाँ हैं। किन्तु उन शक्तिओं के प्रति तुम जागृत नहीं हो।

हम में तटस्थ रूप से सोचने और समझने की शक्ति है ही। किन्तु बहुत समय से यह शक्ति ढँकी पड़ी है। इसलिए सुख-दुःख के बीज आरोपण होते रहते हैं। तब उस परिस्थिति में हम असावधान रहते हैं और प्रतिकूल संयोगों के अनुकूल हो जाते हैं।

हिरन कहीं भी घूम रहे हों, तब भी उन्हें किसी हिंसक प्राणी का भय सतत बना रहता है। इसलिए अचानक हुए आक्रमण में से भी वे बच निकलते हैं। भले ही भय के कारण, पर यह एक प्रकार से सावधानी का परिणाम है। इसी प्रकार यदि हम सुख-दुःख के पंजे में फँसना न

चाहते हों तो इन्द्रियों पर सतत आक्रमण करनेवाले – और कितनी ही बार तो छुपे ढंग से आक्रमण करनेवाले, हमारे आसक्त विचारों, इच्छाओं, कर्मों आदि के प्रति जागृत और सावधान तो रहना ही पड़ेगा । इतना ही नहीं, उसका प्रतिकार भी करना पड़ेगा । जबकि, ऐसा प्रतिकार सहज रूप से संभव नहीं है । ऐसा प्रतिकार तो भागवती प्रेम से ही हो सकता है । पर, इसके लिए हम में जागरूक चेतना भी होनी चाहिए । भगवान की कृपा से ही ऐसा प्रतिकार हो सकता है और हम से सतत साक्षीभाव दृढ़ करना भी तभी हो सकता है ।

'किन्तु मोटा, हम ऐसे भागवती प्रेम को किस ढंग से मदद में ले सकते हैं ?'

श्रीमोटा : जिनमें भागवती प्रेम प्रकट हो गया हो, ऐसे सत्पुरुष के हृदय के प्रति प्रेम-भक्तिभाव भरा सहकार और सहयोग आयोजित करने से हममें ऐसे भागवती प्रेम का सहारा प्राप्त होता है ।

'आपने इन्द्रियों की इच्छाओं की बात कही, पर सच बात कहता हूँ कि, इनके संतोष देने से हमें अत्यधिक सुख अनुभूत होता है । इसप्रकार के इन्द्रिय सुख को ही हम सुख मानते हैं । जब आप ऐसी इच्छा के प्रति सावधान होने को कहते हैं । इससे हमारी सांसारिक वृत्ति खुलकर सामने आती है और हम कैसी गलत वस्तु को सच मानकर चिपके हुए हैं, इसकी चेतना जागृत होती है ।'

श्रीमोटा : तुमने इतना सत्संग किया है, इसलिए इतनी बात हमसे हो सकी । बाकी हमें तो किसी से कुछ भी नहीं कहना है ।

भाई, इन्द्रियों की सूक्ष्म इच्छाएँ इतनी मीठी और बलवान होती हैं कि संतोष प्राप्त हो तो ही हमें सुख मिलता है । हम तो इस संसार के दैनिक व्यवहार में डूबे हुए हैं । इसलिए हमें तो इन इन्द्रियों की सूक्ष्म चालबाजी समझ में ही नहीं आएगी । यदि यह समझ में न आये तो फिर इसका प्रतिकार करने का सूझेगा ही कहाँ से ?

इसलिए मैं तुम्हें सतत अंतर्निरीक्षण करने को कहता हूँ । इसप्रकार के अंतर्निरीक्षण से अपने अंत:करण की लगातार पहरेदारी होती रहती है। हमारे सबके लिए यह बहुत ही हितकारी है । इतना ही नहीं किन्तु हमारे भले के लिए अनिवार्य है ।

इसप्रकार के सतत अभ्यास से जब ऐसी स्थिति प्राप्त होती है तो प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के प्रसंग के कारण स्पर्श कर दुबारा यथायोग्य स्थिति में ही रहती है और किसी भी प्रकार के हर्ष-शोक का अतिरेक कभी न होगा । जब इसप्रकार की स्थिति प्राप्त होती है, तभी हम अनुभव के आधार पर कह सकते हैं कि इन्द्रियाँ लोलुप बनकर विषय के उपभोग में नहीं बह रही हैं । पर केवल विषय भोग आवश्यकता के अनुसार ही इन्द्रिय गति करती रहती हैं ।

ऐसे ज्ञानपूर्वक स्वार्थरहित आचरण हुआ करे, ऐसी स्थिति में इन्द्रियों को लाकर रखने के लिए बहुत प्रयत्न करने से ही सारे सुख-दु:खों का नाश हो सकेगा । इन्द्रियों को अपने विषय में रुचि लेना बंद कर देने के बाद ही हम सारी परिस्थिति में यथायोग्य आचरण रख सकते हैं । इसलिए सबसे पहला काम तो हमें जो जो विचार स्फुरित हों उन्हें निकाल डालने के लिए उन विचारों के प्रति साक्षीभाव बने रहने के लिए हमें सतत संघर्ष करते रहना चाहिए । ●

१८. पूर्वजन्म के संस्कारों का परिणाम !

॥ हरि:ॐ ॥

'मोटा, आपने बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात समझायी । इतना ही नहीं किन्तु जीवन के लिए आदर्श स्थिति को भी आपने स्पष्ट कर दिया । जीवन में इसप्रकार के सुख प्राप्त हों यह तो महद्भाग्य कहलाएगा । मेरे पढ़ने में आया है कि हमें जो विचार, वृत्तियाँ, आसक्तिजन्य भाव आदि होते हैं, यह सब तो हमारे पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है अर्थात्

भावकर्म का यह परिणाम है, तो इसमें हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं है । सुख-दुःख आते हैं, वह भी पूर्वकर्मों के संस्कार का ही फल है । इससे तो यह समझ में आता है कि, हमें कुछ भी नहीं करना है । मुझे इससे उलझन होती है । आप इस तथ्य को समझाएँगे ।'

श्रीमोटा : किसी भी तथ्य को यथार्थ रूप में समझना यह कठिन काम है । पूर्वजन्म के संस्कार की बात सच है । ये संस्कार जागृत हो हमें बलात् खींचते जाते हैं, यह भी सच है । परन्तु इसके सामने हमारे पास चेतनात्मक जागृति का बल अनेक गुना बढ़कर है ।

पर हमारी वर्तमान अवस्था में – अजागृति अवस्था में हमारे द्वारा पूर्वकर्म के संस्कार का बल है । ऐसा नहीं कहा जाएगा ।

हमारे लगातार जागृत प्रयत्न के बावजूद, उसका हमें संपूर्ण ज्ञान होने पर भी, इन्द्रियों का उसमें आसक्तिभाव न होने पर भी, इन्द्रियों पर का नियन्त्रणयुक्त पूरी सजगता और ज्ञान सतत सोते जागते होने पर भी, हमारी वृत्ति के योग्य न हो ऐसे काम हों तो उसमें पूर्वसंस्कार हैं और उसे भोगा जाता है यों हम मान सकते हैं । क्योंकि इसप्रकार के भोग के पीछे- इसप्रकार के विचारभाव के पीछे आसक्ति नहीं, ऐसी हमें अंतर की पूरी प्रतीति है । मात्र जैसे श्वास लेने की प्रक्रिया होती है, वैसे वह क्रिया तब– वैसी स्थिति होने पर–होती है । पर यह बहुत सूक्ष्म बात है । वह समझना बड़ा कठिन है । ●

१९. संस्कारों की गठरी

॥ हरिः ॐ ॥

'यह संस्कारोंवाली बात अधिक समझने जैसी है । यह जानते हैं इसलिए हमारे जीवन का स्वरूप ही मानो किसी अनोखे प्रकार का हो, ऐसा लगता है !'

श्रीमोटा : जीवन को सबसे कम शब्दों में समझना हो तो ऐसा कह सकते हैं—जीवन यानी अनंत जन्मों के संस्कारयुक्त (जीव-की) चेतनशक्ति

की मानव देह द्वारा होनेवाली वहनक्रिया । इस जीवन नदी के प्रवाह की तरह प्रति क्षण परिवर्तित होता जाता है और इस पलटते-परिवर्तित अंतर पुराने के आधार पर होता रहता है । पुराने संस्कारों ने नदी के पट की तरह एक पटल रचा होता है । उस पटल में बहने की और जीवन प्रवाह का सुख होता है । इसप्रकार साधारण ढंग से तथा स्वाभाविक रूप से नए संस्कारों का निर्माण होता है । इससे इन्द्रियों के साम्राज्य के अंतर्गत बहुत से मानवों ने कर्म के यानी कि कर्म के संस्कारों की गठरी बांधकर जगत से चलते बनते हैं । किसी-किसी ही विरल व्यक्तिओं ही इस गठरी को त्यागकर–रखकर किसी भी प्रकार के बंधन बिना, बोझ बिना इस संसार में से प्रयाण कर सकें, ऐसी स्थिति प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होती है। ऐसी प्रबल इच्छा के परिणामस्वरूप अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों में रुचि लेते हुए रोकने लगती है और इसप्रकार इन्द्रियों के विषयों के प्रति साक्षीभाव रखते-रखते ऐसा धन्य जीव निरासक्त होता जाता है । परिणामस्वरूप उसकी इन्द्रियों की आदतों का रुख भी रूपान्तरित होता जाता है ।

इसप्रकार उसकी वृत्ति निरासक्ति के ठण्डे प्रवाह में बहती जाती है अर्थात् संस्कारों की संपूर्ण शुद्धि होने पर उसके कर्म बंधन टूट जाते हैं । ●

२०. बुद्धिशक्ति–विवेकशक्ति

॥ हरिः ॐ ॥

'मोटा, आपने बहुत बड़ी बात कही है । कर्म स्वयं ही ऐसे बंधन किया करते हों तो इस सुख-दुःख के चक्र से उतरने की बारी ही न आये न ?'

श्रीमोटा : नहीं, ऐसा नहीं है । पर हममें चेतनाशक्ति है और भले वह गूढ़ हो, तब भी उसके लक्षणों की पहचान हम परख भी सकते

हैं । हममें जो प्रबल इच्छाशक्ति है, यदि वह नये जीवन को प्राप्त करने के लिए उपयोग में लें तो यह काम जितना कठिन लगता है, इससे वह अधिक सरल बन जाता है, क्योंकि क्रमशः हमें इसमें रुचि और सुख बढ़ते जाते हैं, इसका अनुभव होता है ।

फिर, कर्म स्वयं ही बंधनकर्ता नहीं है । पर, कर्म करते समय जो भावना हम हृदय में धारण करते हैं, उसके संस्कार हमें बाँधते हैं और नये जन्म में उन संस्कारों की धकेलन हमें दूसरे नये कर्म में प्रेरित करती है । इसीलिए ही यदि हम कर्म करते समय भगवान की भावना अर्थात् कर्म से पेर रहने की भावना बनाये रखने की सजगता रखें और ऐसी सजगता रखते-रखते कर्म करते समय अहंकार, ममता, लोभ, मोह आदि न आने दें और सब कुछ ही प्रभु के चरणों में समर्पित करने की भावना करें तो, ऐसा भाव हमें कर्म के बंधन से मुक्त रखता है । यह बात तुम समझ गये न !

इसलिए तुम कहते हो ऐसे इस अनंत जन्मों के घूमते हुए चक्र में से उतरने की संभावना है । पर इसके लिए प्रबल इच्छाशक्ति और सूक्ष्म विवेकशक्ति होनी चाहिए ।

'ऐसा मानें कि ऐसी इच्छाशक्ति तो प्रकट हो, पर आप जिस विवेकशक्ति की बात कहते हैं, उसके विषय में मुझे समझाइए न !'

श्रीमोटा : जब इन्द्रियाँ निरासक्त होने लगती हैं और ऐसा होते-होते संपूर्ण रूप से आसक्तिरहित हो जाती हैं, तभी हमें सही विवेकशक्ति मिलती है । हमारी वर्तमान अवस्था में हमारी बुद्धि के निर्णय भी विवेकवाले नहीं होते हैं, क्योंकि हमारी बुद्धि अनेक जन्मों के संस्कारों से विविध रंगों से रंगी होती है । इसलिए ऐसी बुद्धि से सुझाया निर्णय पूरी तरह से सही ही है, ऐसा मान लेना, यह भगवान के रास्ते पर जाने के हमारे मार्ग में पत्थर डालने के समान है । इसलिए ऐसे निर्णयों के आधार पर जीवन निर्माण करना योग्य नहीं है ।

हमें यह समझना चाहिए और याद रखना चाहिए कि मोह रूपी कीचड़ में पड़ी बुद्धि के निर्णय संपूर्ण रूप में सही तो नहीं हैं ।

इसलिए इन्द्रियों की विषयों के प्रति गति को हम साक्षीभाव से देखा करेंगे और उनके आकर्षण के वश नहीं होने का अभ्यास प्रेमभक्तिपूर्वक करते जाएँगे । तब हमारे लिए नयी अवस्था जरूर आएगी । उस समय इन्द्रियों का आकर्षण लगने पर भी उस मार्ग पर न जाकर यथायोग्य मार्ग पर जाने की शक्ति हमें अधिक से अधिक प्रमाण में प्राप्त होती रहती है । अथवा वह सूक्ष्मकला प्रभुकृपा से हमें अधिक से अधिक हस्तगत अधिक सच्चे अर्थ में हृदयगत होती जाती है । ●

२१. योग्य जीवन

॥ हरिः ॐ ॥

'मोटा, आपने जीवन के विषय में मेरी दृष्टि प्रकाशित कर डाली है । आप जिस साक्षीभाव रखने को कहते हैं, वह भाव एकदम तो कैसे जाग सकता है ?'

श्रीमोटा : देखो भाई, साक्षीभाव जागना और टिका रहना यह तो बहुत ऊँची अवस्था की बात है । किन्तु वह जागेगा सही । मैंने तुम्हें इसीलिए कहा कि, पहले तो तुम्हें जागृति लाने का अभ्यास करते रहना है । किसकी जागृति ? शान्त और प्रसन्न रहना है, यह जीवन का उद्देश्य है । इस उद्देश्य के लिए जागृति रखनी है । मैंने कहा इसमें तो संसार में योग्य ढंग से जीने का आदर्श है ।

इन्द्रियों के व्यवहार भले ही चलते रहें, किन्तु उस समय सतत जागृति हो तो साक्षीभाव से रहने का प्रयत्न करने की स्वाभाविक रूप से ही आदत हो जाती है । अंग्रेजी में जिसे, Reflex Action कहते हैं । उसके जैसा एक प्रकार का तटस्थ भाव का रुख अपने आप सामने उठा ही करता है । ऐसा होने पर अंत में हममें साक्षीभाव लगातार रहेगा । तभी

हमारी बुद्धि भी प्रभु के चरणकमल में समर्पित होती जाएगी और अंत में पूरी तरह समर्पित होगी ।

ऐसा अच्छा संयोग अपने जीवन में प्राप्त करने के लिए पूरी तरह से नम्रता, श्रद्धा, विश्वास अनिवार्य है । यह सब भी ऐसे ही नहीं आ जाते हैं । यह सब प्राप्त करने के उद्देश्य से ही पूरी सजगता द्वारा भगवान का नामस्मरण, ध्यान, प्रार्थना, शरणभाव—यह सब लगातार समर्पण यज्ञ प्रभुकृपा से जैसे-जैसे होता जाएगा वैसे-वैसे होता जाता है और उसी प्रमाण में नम्रता, श्रद्धा, विश्वास, अनासक्ति, तटस्थता आदि भाव जागृत होंगे । हमारे प्रत्येक कर्म में उसके भाव जागृत होंगे और हमारे प्रत्येक कर्म में उसका भाव स्थिर हुआ, हमें अनुभव होगा ही ।

तभी हम सच्चे अर्थ में सुख का अनुभव कर सकते हैं, इसे निश्चित समझें । ●

॥ हरिः ॐ ॥

साधना-मर्म

(१) मुख से या मन में जागृत रूप से जप : साथ ही हृदय प्रदेश पर ध्यान तथा चेतना चिंतन के साथ भावात्मक भाव का रटन ।

(२) प्रत्येक क्षण में सतत समर्पण : अच्छे तथा बुरे दोनों का ।

(३) साक्षीभाव, जागृति : विचारों की शृंखला न जोड़ें ।

(४) हो सके उतना अधिक वाचिक और मानसिक मौन रखें । अभ्यस्त हो अत्यधिक शरणभाव से जीवन में चेतनापूर्वक जागृति व्यवस्थित करें ।

(५) आग्रह - प्रभु चिंतन के अलावा सभी आग्रहों को छोड़ें; नम्रता रखें, शून्य होने का ध्येय रखें ।

(६) बहुत भावपूर्ण हृदयस्थ हो आर्द्र और आर्तभाव से प्रार्थना करें । भगवान को सभी सुख-दुःख बतलाते रहें; उनके साथ आत्मनिवेदन द्वारा बहुत गहरा व्यक्तिगत संबंध स्थापित करें; मन में कुछ भी विचार न आने दें । रिक्त रहें ।

(७) जो भी कार्य करें, प्रभु का है समझकर करें; जरा भी संकोच किये बिना उसे बहुत प्रेमपूर्वक करें, प्रत्येक प्रसंग-घटना हमारे कल्याण के लिए ही है और प्रत्येक प्रवृत्ति हमारे अपने ही विकास के लिए होनी चाहिए, प्रत्येक प्रसंग के पीछे प्रभु का गूढ़, शुभ संकेत छिपा है ।

(८) आत्मलक्षी—अंतर्मुखी बनें, मात्र अपनी दुनिया में रहें । जान बूझकर अपने आपको न उलझने दें ।

(९) अन्य (दूसरों) की सेवा प्रभुसेवा समझें; सेवा लेनेवाले सेवा देनेवाले पर सेवा का अवसर देकर उपकार करते हैं। राम ने दिया है और राम को दे रहे हैं, वहाँ 'मेरा मेरा' कहाँ रहा ? तुम्हारा इस जगत में है क्या ?

(१०) प्रत्येक कर्म, प्रत्येक बातचीत, व्यवहार हमारे ध्येय को गति दे ऐसे उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर करें। पढ़ते-लिखते समय और प्रत्येक कर्म करते समय भाव की स्मरणधारणाओं का अभ्यास करते रहें।

(११) वृत्ति का मूल खोजें, उसका पृथक्करण करें। उसमें खोये बिना, उसका तटस्थतापूर्वक और स्वस्थतापूर्वक निरीक्षण करें।

(१२) प्रभु की प्रत्येक कला, सौन्दर्य, रमणीयता, विशुद्धता आदि प्रभु के वरदानों में रहे भाव का, उसके उसके अनुरूप भाव, तब हम में प्रगट हो, ऐसी प्रार्थना करें।

(१३) उमंग, आवेश और प्रेमभाव को ऐसे ही न जाने दें; साथ ही उसमें डूब भी न जाएँ। उसका साधना में उपयोग करें; तटस्थता बनाए रखें।

(१४) खाते और पानी पीते हुए जीवन में चेतनशक्ति के अवतरण-भावकी प्रार्थना करें; शौच, पेशाब आदि क्रियाओं के समय विकारों, कमजोरियों आदि का विसर्जन भाव से प्रार्थना करें।

(१५) स्थूलता को त्यागकर, सूक्ष्म तत्त्व को ध्यान में रखें। वृत्ति की शुद्धि करें, भाव की वृद्धि करें।

(१६) प्रभु सचराचर हैं। आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना रखें।

(१७) प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु के उज्ज्वल पक्ष को ही देखें। किसी के भी काजी न बनें; किसी को भी जल्दी से अभिप्राय न दें; वाद-विवाद न करें; अपना आग्रह न रखें; दूसरों में शुभ हेतुओं

का आरोपण करें; मानसिक और सार्वत्रिक उदारता जीवन में प्रगट करें; अत्यधिक प्रेमभाव बनाए रखें; प्रकृति का रूपान्तर करना है उसे लक्ष में रखकर प्रकृतिवश होनेवाले कर्मों को वश न हो कर आगे बढ़ें; फल की आसक्ति त्यागें; स्वयं पर होते अन्यायों–आ पड़ते दु:खों–आदि का मूल हम में ही है, इसे दृढ़तापूर्वक मानें । गुरु में प्रेमभक्तिभाव दृढ़ बनाये रखें; तटस्थता, समता और समर्पण के त्रिवेणी संगम को नित्य बनाए रखें । सदा प्रसन्नता बनाए रखें; कृपा और पुरुषार्थ के युगल को जीवन में उतारें; प्रत्येक कर्म के आदि, मध्य और अंत में प्रभु की स्मृति बनाए रखें; मन को नि:स्पंद करें; राग-द्वेष निर्मूल करने की जागृति सतत रखें; आध्यात्मिक अनुभवों को नित्य के व्यावहारिक जीवन में आचरण में लायें; कहीं भी किसी भी दायित्व से भागें नहीं; जो भी प्रभुइच्छा से प्राप्त हो, उसे प्रभुप्रसाद समझ प्रसन्नता से ग्रहण करें । कहीं भी किसी से तुलना न करें; अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, यह मन का भ्रम है; जीवन साधना के लिए सब कुछ सानुकूल ही होता है; प्रभुमय-उनके मूक यंत्र-होने ही एक तमन्ना ही जीवन में बनाए रखें ।

(१८) कर्म में, कर्म का महत्त्व नहीं है, किन्तु जीवन के भाव का सतत एक समान सजग चिंतन रहा करे, यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है । ऐसा सजग अध्ययन कर्म करते हुए क्षणों में बनाए रखें ।

– श्रीमोटा

पूज्य श्रीमोटा के जीवन का परिचय

जन्म	:	ता. ४-९-१८९८ भाद्रपद कृष्ण चतुर्थी, संवत १९५४
स्थान	:	सावली, जिल्ला वडोदरा (गुजरात)
नाम	:	श्री चूनीलाल
माता	:	श्रीमती सूरजबा
पिता	:	श्री आशाराम
जाति	:	भावसार
१९१६	:	पिता की मृत्यु ।
१९०५ से १९१८	:	टुकड़ों में पढ़ाई के साथ कठिन मजदूरी ।
१९१९	:	मैट्रिक उत्तीर्ण ।
१९१९-२०	:	वडोदरा कॉलेज में ।
दि. ६-४-१९२१	:	कॉलेज का त्याग ।
१९२१	:	गुजरात विद्यापीठ
१९२१	:	विद्यापीठ का त्याग । हरिजन सेवा का आरंभ ।
१९२२	:	मिरगी की बीमारी से तंग आकर गरुड़ेश्वर की चट्टान से आत्महत्या का प्रयास, दैवी रक्षा; 'हरिः ॐ' जप से रोग मिटाने का सफल प्रयोग ।
१९२३	:	'तुज चरणे' तथा 'मनने' की रचना ।
१९२३	:	वसंतपंचमी को पूज्य श्रीबालयोगीजी द्वारा दीक्षा । श्रीसद्गुरु केशवानंद धूणीवाले दादा के दर्शन के लिए सांईखेड़ा गए । रात्रि को स्मशान में साधना और दिनभर प्रभुप्रीत्यर्थ हरिजन सेवा ।

१९२६	:	विवाह – हस्तमिलाप के अवसर पर समाधि का अनुभव ।
१९२७	:	हरिजन आश्रम, बोदाल में सर्पदंश – परिणामस्वरूप 'हरि:ॐ' जप अखंड हुआ ।
१९२८	:	'तुज चरणे' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन ।
१९२८	:	प्रथम हिमालय-यात्रा ।
१९२८	:	साकोरी के पूज्य श्रीउपासनीबाबा का नडियाद में आगमन, उनके आदेश पर साकोरी गये, वहाँ मलमूत्र के बिस्तर में सात दिन ।
१९३०	:	मन की नीरवता का साक्षात्कार ।
१९३० से ३२	:	इस दौरान साबरमती, विसापुर, नासिक और यरवडा जेल में । उद्देश्य देशसेवा का नहीं, साधना का । कठोर परिश्रम और लाठी चार्ज के दौरान प्रभुस्मरण-मौन । विद्यार्थियों को समझाने के लिए विसापुर जेल में सरल गुजराती भाषा में श्रीमद् भागवद्गीता को लिखा–'जीवन गीता' ।
१९३४	:	सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार ।
१९३४ से १९३९	:	इस दौरान हिमालय में अघोरीबाबा के पास जाना हुआ । धुंवाधार के झरने के पीछे की गुफा में साधना । चैत्र मास में २१ उपलों की ६३ धुनियाँ प्रज्वलित की, नर्मदा किनारे खुले में शिला पर नग्न बैठकर साधना; शीरडी के सांईबाबा के प्रत्यक्ष दर्शन–आदेश–साधना के अंतिम चरण का मार्गदर्शन ।

१९३९ : दि. २९-३-३९ : रामनवमी संवत १९९५ काशी में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार। हरिजन सेवक संघ से त्यागपत्र । 'मनने' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन ।

१९४० : दि. ४-९-४० : हवाई मार्ग से अहमदाबाद से कराँची जाने का गूढ़ आदेश ।

१९४१ : माता का अवसान ।

१९४२ : हरिजन सेवक संघ से अलग होने पर भी हरिजन कन्या छात्रालय के लिए मुंबई में चन्दा इकट्ठा किया। दो बार सख्त पुलिसमार देहातीत अवस्था के प्रमाण ।

१९४३ : २४, फरवरी में गाँधीजी के पेशाब के जहरीले जन्तुओं का अपने पेशाब में दर्शन । नैमित्तिक तादात्म्य का अनुभव ।

१९४५ : हिमालय की यात्रा - अद्‌भुत अनुभव ।

१९४६ : हरिजन आश्रम, अहमदाबाद मीरां कुटीर में मौन एकांत का आरंभ ।

१९५० : दक्षिण भारत के कुंभकोणम् में कावेरी नदी के किनारे हरिःॐ आश्रम की स्थापना। (१९७६ में देहत्याग के बाद आश्रम बंद कर दिया गया ।)

१९५४ : सूरत के कुरुक्षेत्र जहाँगीरपुरा के स्मशान में एक कमरे में मौन एकांत का आरंभ ।

१९५५ : दि. २८-५-५५ : नडियाद, शेढी नदी के किनारे हरिःॐ आश्रम की स्थापना ।

१९५६ : दि. २३-४-५६ सूरत जहाँगीरपुरा कुरुक्षेत्र में हरिः ॐ आश्रम की स्थापना ।

१९६२ से १९७५ : शरीर के अनेक रोग-लगातार प्रवास के साथ ३६ आध्यात्मिक अनुभव ग्रन्थों का लेखन-प्रकाशन ।

१९७६ : फाजलपुर, मही नदी के किनारे श्री रमणभाई अमीन के फार्म हाउस में दि. २३-७-७६ को मात्र छः व्यक्तियों की उपस्थिति में आनंदपूर्वक देहत्याग । स्वयं के लिए 'इँट चूने का स्मारक न बनाने का आदेश' और इस निमित्त प्राप्त राशि का उपयोग गुजरात के दूरदराज पिछड़े गाँवों में प्राथमिक पाठशाला के कमरे बनवाने में उपयोग करने की सूचना ।

॥ हरिः ॐ ॥

आरती

ॐ शरणचरण लीजिए, प्रभु शरणचरण लीजिए
पतित को उबार लीजिए (२) कर पकड़ हृदय लगा लीजिए...
ॐ शरणचरण.

मन-वाणी के भाव आचरण में उतरें प्रभु (२)
मन, वाणी और दिल को (२) कृपा कर एक करें...ॐ शरणचरण.

सभी स्वजनों के साथ, दिल में सद्‌भाव जगें, प्रभु (२)
भले अपमान हुए हो (२) तब भी भाव बढ़े...ॐ शरणचरण.

हीन प्रकार की वृत्ति; ऊर्ध्वगमन करें, प्रभु (२)
प्रभुकृपा से मथन करावें (२) चरणशरण पाने...ॐ शरणचरण.

मन के सकल विकार, प्राणयुक्त वृत्ति, प्रभु (२)
बुद्धि की सभी शंकाएँ (२) चरणकमल में द्रवित हो...ॐ शरणचरण.

जैसे भी हो प्रभु, वैसे ही दीखें, प्रभु (२)
मति मेरी खुली रहे (२) स्पष्ट ही परखें...ॐ शरणचरण.

दिल में कुछ भरा हो, उससे सब उल्टा, प्रभु (२)
मुझसे कभी न हो (२) ऐसी मति दें...ॐ शरणचरण.

जहाँ जहाँ गुण और भाव, वहीं दिल मेरा टिके, प्रभु (२)
गुण और भाव की भक्ति (२) मेरे दिल में संचरित करें...ॐ शरणचरण.

मन, मति, प्राण प्रभु । तुम्हारे भाव में तल्लीन रहे, प्रभु (२)
दिल में तुम्हारी भक्ति में (२) उमंगें-तरंगें तरंगित करें...ॐ शरणचरण.

– मोटा

हरि:ॐ आश्रम में उपलब्ध हिंदी पुस्तकों का लिस्ट

क्रम	पुस्तक	प्र.आ.
१.	पूज्य श्रीमोटा एक संत	१९९७
२.	कैंसर का प्रतिकार	२००८
३.	सुख का मार्ग	२००८
४.	दुर्लभ मानवदेह	२००९
५.	प्रसादी	२००९
६.	नामस्मरण	२०१०
७.	हरि:ॐ आश्रम (श्रीभगवान के अनुभव का स्थान)	२०१०
८.	श्रीमोटा के साथ वार्तालाप	२०१२
९.	विवाह हो मंगलम्	२०१२
१०.	बालकों के **मोटा**	२०१२
११.	विद्यार्थी **मोटा** का पुरुषार्थ	२०१२
१२.	मौनमंदिर का मर्म	२०१३
१३.	मौनमंदिर का हरिद्वार	२०१३
१४.	मौनएकांत की पगडंडी पर	२०१३
१५.	मौनमंदिर में प्रभु	२०१४

●

English books available at Hariom Ashram Surat. January - 2020

No.	Book	F. E.
1.	At Thy Lotus Feet	1948
2.	To The Mind	1950
3.	Life's Struggle	1955
4.	The Fragrance Of A Saint	1982
5.	Vision Of Life - Eternal	1990
6.	Bhava	1991
7.	Nimitta	2005
8.	Self-Interest	2005
9.	Inquisitiveness	2006
10.	Shri Mota	2007
11.	Rites and Rituals	2007
12.	Naamsmaran	2008
13.	Mota for Children	2008
14.	Against Cancer	2008
15.	Faith	2010
16.	Shri Sadguru	2010
17.	Human To Divine	2010
18.	Prasadi	2011
19.	Grace	2012
20.	I Bow At Thy Feet	2013
21.	Attachment And Aversion	2015
22.	The Undending Odyssey (My Experience Of Sadguru Sri Mota's Grace)	2019
23.	Pujya Shri Mota Glimpses of a divine life (Picture Book)	2020
24.	Genuine Happiness	2021

●

दोष के विचार से दोष के संस्कार

'दूसरों के दोषों को निवारने से तथा हम ही सही हैं और दूसरे गलत हैं, इस समझ में रही सूक्ष्म भूल समझ में आने लगती हैं । मोटा, इसप्रकार से दोष देखने के संस्कार हम में पडे ही होंगे न ? ऐसे संस्कारो से भरा यह संसार क्या ऐसा ही रहेगा ?'

श्रीमोटा : हम जगत को सुधार नहीं पाएँगे और सभी को अपनी अपनी गती में बहते रहनेवाले हैं । हम उन्हें नहीं रोक सकते । तो फिर हम क्यों नाहक में दुःखी हों ? अपने मन में दूसरों के दोष बार-बार देखकर तथा उसी प्रकार के विचार बार-बार करके हम अपने चित्त में दोष के ही संस्कार डालते हैं । जिस प्रकार के संस्कार पडेंगे, उसी प्रकार से जीवन का निर्माण होता है यों समझना चाहिए । इसलिए हमारे मन में ऐसे दोषों का स्फुरण हो उस समय जाग्रत हो विचारना चाहिए कि क्या हमें इस प्रकार के संस्कार डालकर इस प्रकार जीवन-निर्माण करना है ?

- श्रीमोटा

'सुख का मार्ग', प्रथम समस्करण, पृष्ठ १७